विचार संगम

भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

विचार संगम

भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,

अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,

लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :

पुष्पा शर्मा

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,

लोहाखान, अजमेर-305001

ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

संस्करण

प्रथम 2025

ISBN : 978-81-993854-0-5

मूल्य - 400/-

रचना - विचार संगम-भारतीय दर्शन, विज्ञान, साहित्य-कला और तकनीकी के विशेष संदर्भ में

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

19

मीमांसा में नैतिक विचार

डॉ. किरण भदेरिया
सहायक आचार्य (समाज विज्ञान विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

मीमांसा दर्शन भारतीय दर्शन का एक अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है, जिसका मूल उद्देश्य 'धर्म' के स्वरूप की खोज और व्याख्या करना है। इसका प्रारंभ ही सूत्र से होता है— 'अथातो धर्मजिज्ञासा', अर्थात् अब धर्म की जिज्ञासा की जाएगी।

मीमांसा दर्शन में धर्म को कर्मप्रधान माना गया है, जो वेदों में निर्दिष्ट कर्तव्यों के पालन से प्राप्त होता है। इस दृष्टिकोण से मीमांसा नैतिकता को केवल आचरण या सदाचार तक सीमित नहीं रखती, बल्कि उसे वेदविहित कर्मों के पालन में निहित मानती है। यहाँ नैतिकता का आधार श्रुति (वेद) है, न कि व्यक्तिगत विवेक या सामाजिक परंपरा।

इस दर्शन के अनुसार, मनुष्य का कर्तव्य है कि वह वेदों द्वारा निर्दिष्ट नित्य, नैमित्तिक, और काम्य कर्मों का पालन करे। यही पालन उसे धर्मात्मा बनाता है। अत: मीमांसा में नैतिकता की कसौटी 'वेदसम्मत आचरण' है, जो व्यक्ति और समाज दोनों की मर्यादा और कल्याण का आधार बनता है।

मीमांसा दर्शन के प्रणेता महर्षि जैमिनी माने जाते हैं, जिन्होंने वेदों के कर्मकाण्ड भाग की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की। यद्यपि इसकी वैचारिक परंपरा का प्रारंभ निरुक्तकार यास्क से माना जाता है और इसके आद्य उपदेशक ब्रह्मा कहे गए हैं।

भारतीय वाङ्मय में मीमांसा का इतिहास अत्यंत प्राचीन है — लगभग बारह सहस्र वर्षों तक इसकी परंपरा चली है। इस दीर्घ काल में ब्रह्मा से लेकर जैमिनी तक अनेक ऋषियों ने इस शास्त्र का अध्ययन और प्रचार किया, यद्यपि उनके नाम पूर्णत: ज्ञात नहीं हैं।

भट्ट कुमारिल की श्लोकवार्तिक टीका में पार्थसारथी मिश्र ने इस परंपरा का विस्तृत उल्लेख किया है। इसमें सबसे पहले महेश्वर का नाम आता है, जिन्हें वेदान्त का प्रवक्ता भी माना गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में पाणिनी को महेश्वर संप्रदाय का अंग बताया गया है।

मीमांसा की गुरु-परंपरा में अनेक आचार्यों के नाम मिलते हैं। पूर्वमीमांसा के

द्वादश अध्यायों तक में आत्रेय, ऐतिशायन, कामकायन, जैमिनी, वादरायण, बादरि, लाबुकायन आदि का उल्लेख है। आगे संकर्षकाण्ड में आलेखन, आश्मरथ्य, काष्र्णाजिनि, औडुलोमी, बादरायण जैसे आचार्यों के नाम भी मिलते हैं।

उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के सत्रहवें से बीसवें अध्यायों में भी इन आचार्यों का वर्णन है, जिससे मीमांसा और वेदान्त के बीच वैचारिक एकता स्पष्ट होती है।

इस प्रकार कुल बारह प्रमुख मीमांसक आचार्य माने जाते हैं — आत्रेय, औडुलोमी, आलेखन, कामुकायन, बादरायण, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, बादरि, ऐतिशायन, काष्र्णाजिनि, लाबुकायन और जैमिनी।

मीमांसा दर्शन का नैतिक चिंतन पूर्णत: वेदविहित कर्मों पर आधारित है। इसके अनुसार आचार या नैतिकता का अर्थ केवल सदाचार नहीं, बल्कि वेदों में निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन है। मीमांसक यह मानते हैं कि वेद ही सर्वोच्च प्रमाण हैं, अत: जिन सिद्धांतों और नियमों का निर्देश वेदों ने दिया है, वही आचरण के लिए ग्राह्य और अनिवार्य हैं।

इस दर्शन में धर्म को एक प्रेरक शक्ति माना गया है। वह मनुष्य को कर्तव्यपालन की दिशा में प्रवृत्त करता है। धर्म की यह प्रेरणा व्यक्ति को कर्म करने की भावना से अनुप्राणित करती है, जिससे वह अपने सामाजिक और दैविक दायित्वों को निभाता है।

वेदों के अनुसार धर्म का मूल स्वरूप यज्ञप्रधान है। ब्राह्मण ग्रंथों और वेदों दोनों में ही यज्ञकर्म को प्रमुख स्थान प्राप्त है। मीमांसा दर्शन ने इन्हीं यज्ञकर्मों का विस्तारपूर्वक विवेचन कर यह बताया कि कर्मकाण्ड केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि नैतिक जीवन का भी अभिन्न अंग हैं।

मीमांसा दर्शन ने यज्ञ को केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि योग और नैतिक आचरण का प्रतीक माना है। इसके अनुसार यज्ञ दो रूपों में प्रकट होता है —

(1) होम, अर्थात् अग्नि में आहुति देना, और

(2) याग, जो यज्ञकर्ता की आंतरिक भावना, श्रद्धा और मानसिक अवस्था का द्योतक है।

मीमांसकों के अनुसार, याग ही यज्ञकर्ता को अमृत्य (अविनाशी) बनाता है। जब यज्ञकर्ता श्रद्धा और निष्ठा से यज्ञ करता है, तब वह अपने कर्मों के माध्यम से परम तत्व की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

शतपथ ब्राह्मण में मन और वाणी के शुद्ध संयोग को भक्ति कहा गया है, और यज्ञ को समस्त जीवों की आत्मा के रूप में माना गया है। यही कारण है कि वैदिक धर्म में यज्ञ को उतना ही आवश्यक कहा गया है जितना शरीर के लिए प्राण।

प्रो. गजानंद मुसलगांवकर के शब्दों में — ''वैदिक धर्म में यज्ञ का वही महत्व है जो शरीर में प्राण का। यज्ञ वेदविहित धर्म का आत्मस्वरूप है।''

इसीलिए मीमांसा दर्शन में आचार-विचार का केन्द्र वेदविहित यज्ञ और याग ही हैं। यही कर्म शिष्ट आचरण का आधार और धर्म का साक्षात् प्रतीक हैं।

मीमांसा दर्शन में आचार, धर्म और नैतिकता तीनों को एक-दूसरे से अविभाज्य माना गया है। इस दृष्टि में धर्म वही है जो वेदविहित कर्मों के रूप में आचार बनकर प्रकट होता है, और वही नैतिकता का भी वास्तविक रूप है। अत: मीमांसकों ने आचार को धर्म की व्याख्या और यज्ञ के रूप में स्वीकार किया है।

मीमांसाकारों के अनुसार, वेद जिन कर्मों का विधान करता है विशेषत: यज्ञ, दान, होम आदि— वे ही धर्म हैं। इनका विधिवत् अनुष्ठान करने से मनुष्य को नि:श्रेयस (परम कल्याण) की प्राप्ति होती है, जिसे स्वर्ग या दुख-निवृत्ति के रूप में समझा गया है। यही कारण है कि वेद में कहा गया — 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् जो स्वर्ग की इच्छा रखता है, वह यज्ञ करे। इस वाक्य में 'यजेत' शब्द मनुष्य के भीतर धर्मपालन की भावना उत्पन्न करता है।

मीमांसकों में वेदविहित कर्मों के फल को लेकर दो प्रमुख मत पाए जाते हैं—

(1) भट्ट कुमारिल का मत है कि धार्मिक कर्मों के अनुष्ठान का प्रेरक कारण ईष्ट साधनता का ज्ञान है— अर्थात् जब मनुष्य यह जान लेता है कि कोई कर्म उसकी इच्छा-पूर्ति का साधन है, तब वह उसे करता है।

(2) प्रभाकर का मत है कि कर्म का कारण कार्य और ज्ञान दोनों हैं।

कुमारिल का कहना है कि कर्म कर्तव्य-बुद्धि से किए जाने चाहिए, बिना किसी फल की इच्छा के। उनका यह मत निष्काम कर्म की भावना के निकट है। दूसरी ओर, प्रभाकर मानते हैं कि काम्य कर्मों में इच्छा का उल्लेख केवल यह दर्शाने के लिए है कि कौन व्यक्ति उस कर्म का अधिकारी है, न कि फल-प्राप्ति के लिए।

दोनों मतों के बीच अंतर केवल नित्य कर्मों के परिणाम को लेकर है। कुमारिल के अनुसार, नित्य कर्मों के अनुष्ठान से दोषों या पापों का क्षय होता है, जबकि प्रभाकर इसे आत्मिक शुद्धि का साधन मानते हैं।

मीमांसा दर्शन के अनुसार वे आचरण जो परंपरा से चले आ रहे हैं और जिन्हें शिष्टजन (सज्जन, विद्वान, आचार्य) धर्म का अंग मानकर करते हैं, वे भी धर्म के अंतर्गत माने जाते हैं। इन कर्मों का मूल्यांकन उनके फल या उद्देश्य से नहीं, बल्कि इस विश्वास से होता है कि वे वेदसम्मत और शिष्टों द्वारा अनुमोदित हैं।

तंत्रवार्तिक में स्पष्ट कहा गया है कि आचरण केवल इसलिए प्रमाणिक नहीं होते कि वे उपयोगी या सुखद हैं, बल्कि इसलिए कि उन्हें धर्म का भाग मानकर

आचरण किया गया है। इस दृष्टि में मीमांसा शास्त्र यह स्वीकार करता है कि शिष्टों द्वारा अनुमोदित परंपरागत कर्म स्वयं धर्मरूप होते हैं और स्वर्ग या कल्याण के साधन हैं। भले ही कुछ कर्म जैसे— कृषि, व्यापार, सेवा, भोजन, सुख-सुविधा का उपभोग आदि सांसारिक लाभ के साधन हैं, परंतु उन्हें अधर्म नहीं कहा जा सकता। मीमांसाकार यह मानते हैं कि जब तक ये कर्म धर्मविरुद्ध नहीं हैं, तब तक ये धर्म के ही अंग हैं, क्योंकि इनसे समाज की व्यवस्था और जीविका का निर्वाह होता है।

कुमारिल भट्ट का मत है कि व्यक्ति को उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जो उसके पूर्वजों (पिता, पितामह, आचार्य) ने अपनाया है, बशर्ते वह मार्ग उचित और अहानिकर हो। ऐसा करने से धर्म की निरंतरता और सामाजिक स्थिरता बनी रहती है।

पं. उदयवीर शास्त्री ने इस सिद्धांत को व्यावहारिक दृष्टि से प्रस्तुत किया है — उनके अनुसार यज्ञ या वेदविहित कर्मों में नियम और परंपरा का पालन आवश्यक है। जैसे यज्ञ में दक्षिण हाथ का उपयोग न करना विघ्न उत्पन्न कर सकता है, इसलिए वही कर्म और विधियाँ अपनाई जानी चाहिए जो पूर्व आचार्यों द्वारा स्थापित की गई हैं।

मीमांसा दर्शन के प्रमुख आचार्य — शबर, कुमारिल भट्ट और प्रभाकर, सभी कर्म के संदर्भ में वेदविहित यज्ञों को सदाचार और नैतिक आचरण की दृष्टि से स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यज्ञ केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि त्याग, समभाव और सार्वभौमिक करुणा का अभ्यास है।

जब व्यक्ति यज्ञ करता है, तब वह अपने कर्मों के माध्यम से त्याग की भावना का विकास करता है। भोजन से पहले और बाद में किए जाने वाले पांच यज्ञों (पञ्चमहायज्ञों) का विधान इस त्याग और समदृष्टि को विकसित करने का माध्यम है।

भोजन के समय व्यक्ति को यह अनुभव होता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना केवल आत्मबोध नहीं, बल्कि सर्वभूतात्मैक्य की अनुभूति है। इसीलिए बलि-वैश्वदेव यज्ञ में कुत्ते, कोढ़ी, कौए आदि को अन्न अर्पण करने का विधान है, क्योंकि वही व्यक्ति सच्चा याज्ञिक कहलाता है, जो सब जीवों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखता है। जब यह भेद मिट जाता है, तभी मनुष्य सन्यास के योग्य होता है।

यह मीमांसक दृष्टि पश्चिमी दार्शनिक इमैनुएल कान्ट के नैतिक सिद्धांत से भी मेल खाती है। कान्ट ने कहा था — ''वही आचरण उचित है, जिसे हम चाहते हैं कि सब लोग वैसा ही आचरण करें।''

मीमांसा भी यही कहती है कि यज्ञ में किया गया कर्म तभी धर्मरूप है, जब वह सबके कल्याण की भावना से किया जाए। जो कर्म स्वयं के लिए उचित है, वही दूसरों के लिए भी होना चाहिए — यही समानुभूति और समदृष्टि का सिद्धांत मीमांसा का नैतिक मर्म है।

मीमांसाकारों ने 'यज्ञ' शब्द को 'यज' धातु से व्युत्पन्न माना है, जिसके तीन प्रमुख अर्थ बताए गए हैं —

(1) देवपूजा (ईश्वर या श्रेष्ठ के प्रति श्रद्धा और आदर),

(2) संगतिकरण (मिलन या समन्वय), और

(3) दान (त्याग और अपज़्ण की भावना)।

इन तीनों अर्थों में 'संगतिकरण' सबसे व्यापक और सार्थक है, क्योंकि यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य मिलन और एकता की स्थापना है। मिलने के लिए दो पक्ष आवश्यक हैं — दाता और ग्राही। जब दोनों परस्पर कुछ देते और ग्रहण करते हैं, तभी सच्चा संगतिकरण संभव होता है। इस पारस्परिकता में देने वाला देव कहलाता है और ग्रहण करने वाला पूजक। इस प्रकार देवपूजा और दान दोनों ही संगतिकरण (समन्वय) के दो पक्ष हैं। जब दान स्वार्थरहित होता है, तब पूजा भी निष्कपट होती है, और यह पारस्परिक संबंध स्थायी तथा आध्यात्मिक बन जाता है।

यही कारण है कि यज्ञ में बार-बार यह वाक्य उच्चरित किया जाता है — 'इदं न मम'— *यह मेरा नहीं है। यह वाक्य यज्ञ की आत्मा है, जो अस्वार्थ त्याग, सामूहिक समरसता और ईश्वरभावना का प्रतीक है।

मीमांसाकारों के अनुसार यज्ञ करने वाले व्यक्ति को 'यजमान' कहा गया है। यजमान वह होता है जो किसी सामूहिक कर्म या महान उद्देश्य का नेतृत्व करता है। जब अनेक व्यक्ति किसी संगठित कार्य को पूरा करने के लिए एकत्र होते हैं, तो उनके मध्य एक व्यक्ति को मुख्य कार्यकर्ता या संचालक के रूप में चुना जाता है, वही यजमान कहलाता है। यजमान का कार्य केवल अनुष्ठान करना नहीं, बल्कि सभी के संकल्पों को एक दिशा में संगठित कर उद्देश्य की सिद्धि करना है।

यज्ञ में अग्नि का विशेष महत्व बताया गया है। अग्नि केवल भौतिक अग्नि नहीं, बल्कि दृढ़ संकल्प, प्रेरणा और उत्साह का प्रतीक है। अग्नि वह शक्ति है जो मनुष्य को महान कर्म की ओर अग्रसर करती है। इसी कारण ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में कहा गया है — 'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजम्।'

अर्थात् — मैं उस अग्नि का ध्यान करता हूँ जो यज्ञ की प्रेरणा देने वाला, देवतुल्य पुरोहित और सर्वोत्तम मार्गदर्शक है।

यह मंत्र स्पष्ट करता है कि अग्नि वास्तव में ईश्वर रूपी चेतना का प्रतीक है,

जो मनुष्य को जीवनमार्ग में प्रकाश प्रदान करती है।

इसके साथ ही जल को भी यज्ञ में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जल शान्ति, पवित्रता और संतुलन का प्रतिनिधित्व करता है। यज्ञ के पूर्व आचमन की क्रिया इसी शुद्धि-संस्कार का प्रतीक है, जिसका अर्थ है — 'मन, वाणी और शरीर की शुद्धि द्वारा स्वयं को पवित्र बनाना।'

निष्कर्षत: मीमांसा दर्शन में धर्म, यज्ञ और आचार एक-दूसरे के पूरक हैं। धर्म वही है जो शिष्टों के आचरण, वेदविहित कर्मों और नि:स्वार्थ भावना से किया जाए। यज्ञ का अर्थ है संगतिकरण देना और लेना, दोनों का समन्वय। 'इदं न मम' की भावना से किया गया कर्म ही सच्चा यज्ञ है। यजमान सामूहिक कार्य का प्रेरक होता है, अग्नि दृढ़संकल्प का और जल पवित्रता का प्रतीक है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन का सार है — निष्काम कर्म, त्याग, सहयोग और सामाजिक कल्याण ही सच्चा धर्म है।